

लोक संगीत में शोध व आवश्यकता

डॉ० रंजना त्रिपाठी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
संगीत विभाग
आर्य कन्या पी०जी० कालेज
प्रयागराज

शोध सारांशः— वर्तमान समय में लोकसंगीत की क्या स्थिति है? क्या वास्तविक लोक धुने बिसराई जा रही है? क्या समाज की स्थिति को इसमें पिरोकर गीत संगीत का नूतन स्वरूप तय किया जा सकता है? लोक संगीत तो नहीं के प्रवाह की तरह है, जहां—जहां से गुजरेंगा वहीं की मिट्टी की खुशबू लोक की धुनों को अपने में समेटे चलेगा। कालान्तर में क्या नये परिवर्तन हुये यह जानने के लिये लोक संगीत में शोध की आवश्यकता है।

संकेतक : 1.लोकसंगीत 2.लोकधुन 3.परम्परा 4.लोक—संस्कृति 5.लोकजीवन

प्राचीन काल से ही मानव का प्रयास रहा है कि जाने कि ये जीवन क्या है? सृष्टि का रचयिता कौन है? अर्थात् उसके ज्ञान की ईच्छा कभी तृप्त नहीं हुयी। उसकी इन्हीं जिजीविषाओं ने उसे नित नये प्रयोगों को करने का अवसर दिया। मानव स्वभाव ने यदि विचार करना, सोचना समझना बन्द कर दिया तो जीवन में शिथिलता आ जायेगी, मानव जीवन की गति ही रुक जायेगी, इसी प्रकार लोक संगीत की धारा भी निर्बाध बहती रहे, इसके लिए शोध आवश्यक है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रति बढ़ते रुझान हमारे सामाजिक जीवन से परम्परागत लोक संस्कृति को नष्ट करते प्रतीत हो रहे हैं, जिससे लोकगीतों के भी समाप्त होने का खतरा उत्पन्न हो रहा है। प्राचीन परम्परायें, रीति—रिवाज कहीं लुप्त होते जा रहे हैं अथवा अपना रूप बदल रहे हैं, जिससे किसी भी देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साधनों के मिट जाने का भय उपस्थित है।

आज फिल्म—संगीत का नशा लोगों के सिर चढ़ कर बोल रहा है। आजीविका के लिये लोगों का नाता अपने गांव की सोंधी मिट्टी से टूट रहा है, जिसके फलस्वरूप अपनी माटी के गीतों का मोह भी छूटता जा रहा है। आधुनिक विभिन्न मनोरंजनों के, विनोद के साधनों में वृद्धि से भी इन गीतों को पर्याप्त धक्का लगा है और इनके अस्तित्व प्रभावित हुए हैं।

प्रारम्भ में मेले, तीज-त्योहार ही ग्रामीण लोगों के मनोरंजन के साधन थे। व्यापारिक आदान-प्रदान के साथ-साथ सांस्कृतिक कार्यक्रमों की धूम भी मची रहती थी। इन अवसरों की प्रतीक्षा में बैठा जन-समूह अवसर आने पर पूरे मनोवेग से पूरी लोकसंस्कृति का एक वृहद रूप जन-समूह के सामने रखने के लिये पूरे मनोयोग से जुट जाता था किन्तु प्रकारान्तर में आवागमन के साधनों का विकास होने से, आवश्यक वस्तुएं एक दूसरे स्थान पर मिनटों में लाई ले जाने लगीं। अतः मेलों का महत्व भी न रहा। अवसर-विशेष की नीरसता को दूर करने के लिये गीतों की आवश्यकता न रही। विज्ञान की उन्नति से परम्परागत संस्कारों को बड़ी चोट पहुँची है। अब लोग संक्षेप में काम चलाऊ संस्कार कर प्रथाओं को छोड़ते जा रहे हैं, जिससे कई संस्कार लुप्तप्राय हैं। आज ग्रामीण जीवन भी शहरों की देखा-देखी, परम्परावादिता को पिछड़ापन मानकर उसे त्यागने को छटपटा रहा है।

अर्थात् संस्कारों का प्रचलन रुका तो संस्कार गीत भी खत्म हुये। खेती के पुराने तरीके न रहे, जमींदारी न रही, जिससे खेत में काम करवाने के लिये, कृषकों को शिथिल न होने देने के लिये हुड़किये भेजने की जरूरत न पड़ी तो 'हुड़की बोल' खत्म हुआ। वन कट गये, घसियारने न रहीं तो उनके गीत भी खत्म हुये। मेले कम हुये तो सांस्कृतिक क्रियाकलापों का आदान-प्रदान भी प्रभावित हुआ, शिक्षित समाज को 'बन्ना' शब्द पिछड़ेपन का द्योतक लगा तो 'बन्ना-बन्नी' के पारम्परिक गीतों की गूँज फिल्मी गीतों के शोर में खोने लगी। अर्थात् जीवन के अर्थ ही बदल गये। न वो प्राकृतिक जीवन की शैली रही तो उससे सम्बन्धित गीत भी न रहे यही क्रम चलता रहा तो उस परम्परा की क्या पहचान रहेगी, जो लोक संस्कृति का कुबेर मानी जाती रही है।

आज गीतों की वास्तविक धुनें बिसराई जा रही हैं और उनका स्थान नई धुनें ले रही हैं। विद्वतजन गीतों के बोलों के संकलन में जुटे हुये तो है ; किन्तु उनकी धुनों को रक्षित रखने वाला लेखन अभी तक नहीं हुआ, जिनके बिना शब्दों की गेयता का आनन्द नहीं लिया जा सकता।
उदाहरण

प्रथम मास आषाण सरिवहो, गरजि—गरजि के बुनाई,

मामी के ऐसन कठिन जियरा, मास अषाढ़ नहीं आये।

सावन रिमझिम बुनवा बरिसे, पियवा 'थीजेंला' परदेस,

पिया पिया कहि रटेले कामिनी, जंगल बोलेला भोर।।¹

यह किस प्रकार का लोकगीत है, इसे जानने के लिये आज लोकगीतों पर शोध की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

लोक संगीत ही परिष्कृत होकर कालक्रम में शास्त्रीय संगीत की जननी बना है। निबद्ध संगीत लोक संगीत का ही शास्त्रीय रूप है। शास्त्रीय संगीत नियमों के बन्धन में आबद्ध है किन्तु लोक संगीत उससे मुक्त है। अतः लोक संगीत की विविधताओं एवं विशेषताओं को प्रकाश में लाने की आवश्यकता ही लोक संगीत में शोध करने का कारण है।

ई० 6 में भरत मुनि द्वारा ब्रह्मा जी आशीर्वाद से नाट्यशास्त्र का प्रणयन हुआ। इस ग्रन्थ में लोकभाषा का एक अध्याय मगधी भाषा में संस्कृत से हटकर हुआ। ध्रुवा गान में भरत ने शुद्ध संस्कृत का प्रयोग नहीं किया। “भाषा तू शूरसेनी श्याद् ध्रुवाणां सम्प्रयोगने, कदापि मागधीयर्ग कर्तव्यं नत्कुतनुधैः” |²

लोक जीवन को सरस बनाने के लिये लोक गीतों की आवश्यकता पड़ी। सम्पूर्ण जनजीवन में किलष्ट भाषा का ज्ञान होना कठिन बात थी। उनकी सामाजिक भूमिका में लोक गीत ही एक ऐसा साहित्य सिद्ध हुआ जो लोकजीवन की नीरसता को दूर करने में सक्षम दिखाई दिया। लोक साहित्य के रचनाकारों की भी भावभूमि उसी स्तर की होती है तभी तो लोक जीवन के अलग—अलग पक्षों का विवरण प्राप्त होता है। लोक साहित्यकर्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह जन—जीवन के उन अछूते पक्षों का स्पर्श करें जिसका प्रभाव समाज में रहने वाले अनेक वर्गों के व्यक्तियों पर सीधा पड़े तथा उनमें सुधार आये। लोक जीवन में नारी उत्पीड़न के सन्दर्भ में लोक साहित्य का सृजन होना परम आवश्यक है। नारी समाज की एक सम्माननीय पात्रा है जिसके विषय में लोक साहित्य कर्ताओं का यह दायित्व है कि उनके जीवन के रहन—सहन से सम्बन्धित साहित्य का उल्लेख करें और उनके साथ घटने वाली घटनाओं के विरोध में लोकगीतों का निर्माण करें जिससे नारी पक्ष के विपक्षियों के विचार में परिवर्तन आए और एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो। साहित्य समाज का दर्पण है (Literature is the mirror of society)। इस साहित्य दर्पण द्वारा लोकसाहित्य कार्य को यह दिखाना आवश्यक है कि नारी उत्थान में उनका साहित्य कितना कारगर सिद्ध होता है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोकगीतों में हिन्दी, भोजपुरी, मगही और अवधी के संगीत—शास्त्रीय अध्ययन करने से देखा गया है कि लोकगीतों में अधिकतर सात शुद्ध स्वरों और दो विकृत—कोमल गांधार और कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग मिलता है, अर्थात् इनमें मुख्यतः विलावल, खमाज और काफी थाट अपेक्षाकृत अधिक सरल होते हैं। कुछ गीतों में अन्य विकृत स्वरों का भी प्रयोग मिलता है जैसे— कोमल धैवत और कोमल ऋषभ। इनमें भी कोमल ऋषभ का प्रयोग कोमल धैवत से कम है। तीव्र मध्यमयुक्त रचनायें भी हैं। अधिकांश लोकगीतों में तीन, चार अथवा पाँच स्वर ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रदेश के लोकगीतों में पाँच ही स्वर प्रयुक्त हुए हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रचार—प्रसार व विकास के साथ—साथ अनेक लोकगीतों की स्वर सीमाओं में भी अन्तर मिलते हैं। अवधी, भोजपुरी

एवं हिन्दी के कई लोकगीतों में सातों स्वरों का प्रयोग हुआ है। इनमें स्वर वैचित्र्य बहुत अधिक मिलता है, फिर भी लोकगीतों में सरलता, स्वाभाविकता और संक्षिप्तता आज भी वर्तमान है।

लोकगीतों में विशेषतया श्रृंगार, करुणा, हास्य और अद्भुत रसों का निरूपण हुआ है, और लौकिक आदि में वीररस की प्रधानता है। “लोकगीतों में रस की धारा अविछिन्न गति से प्रवाहित होती रहती है ये गीत क्या है? इसके बो फब्बारे है जिनका स्त्रोत कभी सूखता नहीं”³ अनेक रागों का जन्म लोक धुनों से हुआ है— जैसे, आसावरी, माँड, झिंझोटी, पहाड़ी आदि। वर्तमान काल में लोक संगीत पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव पड़ने लगा है। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत के रोचक और प्रभावशाली प्रयोगों को लेकर अपने को अधिक मधुर और आकर्षक बनाये और दूसरी ओर लोक संगीत शास्त्रीय संगीत की सहायता से अपनी सीमाएँ और विविधता बढ़ाये। परन्तु शास्त्रीय संगीत अपनी कलात्कर्मता से और लोक-संगीत अपनी सर्वग्राहिता एवं लोकप्रियता से अलग न हो। इनको विस्तार से जानने के लिए इस विषय पर शोध की आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति का मूल उत्स भारतीय ग्रामीण परिवेश रहा है। लोक संस्कृति ही प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति है। भारत की आत्मा लोक में ही बसती है। भारतीय-संस्कृति में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति होती है। लोकभाषा, लोकगीत, लोकनृत्य, लोक-साहित्य और लोक-चिन्तन ही भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का मेरुदण्ड है। लोक संगीत ही परिष्कृत होकर कालक्रम से शास्त्रीय संगीत के रूप में परिणित हुआ। यहाँ के लोकगीतों में सौन्दर्य है, कला है, मंगल है, माधुर्य है और अपनत्व है। लोकगीतों में लोक-जीवन की स्पष्ट व्याख्या है। धीरे-धीरे पाश्चात्य संस्कृति ने इन लोकगीतों पर भी अपना दुष्प्रभाव डाला है। आज आवश्यकता है इन लोकगीतों के संरक्षण और संवर्धन की। लोकगीतों में हमारी पहचान व हमारा स्वत्व छिपा हुआ है। अपने स्वत्व व निजता से दूर होना किसी भी व्यक्ति व समाज के लिए आत्मघाती होता है। यह कार्य शोध द्वारा ही सम्भव है।

सन्दर्भ:-

1. डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी ग्राम्यगीत भाग-1 पृष्ठ-323
2. नाट्य शास्त्र – भरतकृत – 32 / 440
3. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन पृ० 328 – डॉ कृष्ण देव उपाध्याय